इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यास पहचान और परख संपादक डॉ. कपिल कुमार सिंह राघव राज पब्लिकेशन्स दिल्ली 2016, आई एस बी एन: 978-93-82281-79-5. पृष्ठ: 26-52

निर्वासित मनःस्थिति से मुक्ति की तलाश

डॉ. बिपिन तिवारी

समाज के एक सीमित दायरे के इर्द-गिर्द जब रचना केन्द्रित होने लगती है तब सामूहिक मुक्ति की अवधारणा खंडित होती है। ऐसे में मुक्ति की अवधारणा किसी समाज विशेष तक सीमित हो जाती है। 1990 के बाद से लेकर 21 वीं सदी के दूसरे दशक तक के कथा साहित्य में इस तथ्य को बखूबी देखा जो सकता है। इसमें दलित और गैर दलित दोनों तरह के रचनाकार शामिल हैं। ऐसे में सामाजिक संरचना एक सीमित संदर्भ में ही अभिव्यक्त हो पाती है। इसके पीछे भूमंडलीकरण की नीतियां और नवसाम्राज्यवादी देशों की उन अवधारणाओं की अहम भूमिका है जिन्होंने हाशिये (सबाल्टर्न इतिहास) के माध्यम से समाज के उपेक्षित तबकों को मुख्य की भूमिका में स्थापित करने की हर स्तर पर कोशिश की है, इसके पीछे उनके निहित उद्देश्य हैं। वह समाज को बांटकर देखते हैं जिससे सामूहिकता की अवधारणा अपने में ही खंडित हो जाती है। भूमंडलीकरण के मार्फत एक नए तरह की संस्कृति भारत में विकसित करने की कोशिश की गई है। कथा साहित्य में इस संस्कृति को आधार बनाकर बहुत कम साहित्य रचा गया है। वरिष्ठ कथाकार अखिलेश का निर्वासन उपन्यास इन्हीं अनछुए पहलुओं को अभिव्यक्त करता है, जिसमें व्यक्ति इस संस्कृति का हिस्सा होकर निर्वासन की पीड़ा से गुजरने को मजबूर है। यह निर्वासन किसी एक पात्र मात्र का नहीं है अपितु इससे समाज का हर वर्ग पीड़ित है। ऐसे ही आज के दूसरे बड़े सवालों को भी उपन्यास में अभिव्यक्त किया गया है। उपन्यास के पात्र सूर्यकांत के माध्यम से आज के मध्य वर्ग की पीड़ा को देख सकते हैं। सूर्यकांत एक ऐसा पात्र है जो इस संस्कृति की भयावहता को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। इस पात्र को कथा में इस तरह बुना गया है जिससे पूरे युग की भयावहता स्पष्ट हो जाती है। वह चाहे निर्वासित मनःस्थिति हो, भूमंडलीकृत संस्कृति हो विज्ञापन संस्कृति हो असुरक्षा बोध हो, योजनाओं का सांप्रदायीकरण हो, गांव-शहर की बदलती संरचना हो, या समाज में जाति व्यवस्था की टूटन हो।

निर्वासित मनःस्थिति

अखिलेश के उपन्यास में कथा का ताना-बाना सूर्यकांत-गौरी और रामअजोर पाण्डे के इर्द-गिर्द बुना गया है। यह पात्र मुख्य कथा को बढ़ाने वाले मात्र नहीं हैं अपितु उनकी अपनी कहानी है। इन पात्रों का अपनी तरह का निर्वासन है। इसीलिए निर्वासन एक रूपक में तब्दील हो जाता है, जिससे सभी पीड़ित हैं। सूर्यकांत का अपने घर से निर्वासन गौरी से प्रेम करने के कारण होता है, वहीं रामअजोर का निर्वासन अतिशय भोगवाद से मोहभंग और उसमें अपनी जड़ों की तलाश को लेकर पैदा होता है। विकसित देशों पर यदि गौर करें तो पता चलता हैं कि वहां मनुष्य एक तरफ घोर विकास और भोग के दौर में फंसा हुआ है तो दूसरी तरफ वहां का मनुष्य घोर आस्थावादी

हो गया है। यानी अति उपभोग की प्रवृत्ति मनुष्य को अकेला बनाती है। रामअजोर पांडे इसी का शिकार है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास के दूसरे पात्रांे चाचा, शिबू, देवदत्त आदि के निर्वासन के कुछ अलग कारण हैं। सूर्यकांत के चाचा अतिभोगवादी प्रवृत्ति से निष्कासित होकर एक स्वनिर्मित दुनिया में चले जाते हैं जोकि पुरातनपंथी नहीं हैं। इस संस्कृति में अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए सामान्य तरह से जीने की परम्परा रही है। चाची की नजर में यह दिखावा और पागलपन है। एक समय था जब चाचा अपने परिवार को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त करने को लेकर, काफी उत्सुक थे लेकिन जब वह इस संस्कृति की वास्तविकता को समझ पाये तो इससे उनको घोर विरक्ति हो गई। यह वह संस्कृति है जो लोगों को घोर स्वार्थी बनाती है, जिसमें रिश्तों आदि का कोई मायने नहीं रह जाता है। इसीलिए वह विरोध स्वरूप टी.वी. पर प्रसारित कार्यक्रमों के जवाब में तेज आवाज में रेडियो सुनते हैं। एकदम ठेठ गंवई भाषा बोलते हैं। ऐसे ही विरोध के उनके दूसरे तर्क और तरीके थे। इन्हीं सब कारणों से वह चाची की निगाह में पागल हैं। वह जिस तरह के तर्क इस व्यवस्था के बारे में देते हैं उससे इस व्यवस्था की सच्चाई पता चलती है। वह मानते हैं कि इस व्यवस्था में पुराने को जानबूझकर बाहर किया जा रहा है वह चाहे हमारे रीतिरिवाज हों या हमारे मूल्य, इसके पीछे नव साम्राज्यवादी शक्तियों के अपने स्वार्थ हैं। “ये देसी आम, ये बरतन, ढ़िबरी, लालटेन, ये सिकहर, ये सिल लोढ़ा, ये सब इसी भारत देश में हैं पर अपनी जगह से धक्का दिये गये हैं।...”[1] किसी भी दौर की संस्कृति अपना प्रभाव सीधे-सीधे नहीं जमाती है, पहले वह वहां प्रचलित संस्कृति को पिछड़ी साबित करती है और फिर उसके समानांतर एक नई संस्कृति का विकल्प प्रस्तुत करती है। भूमंडलीकरण की संस्कृति इसी रूप में अपना प्रभाव जमाने में सफल हुई है। चाचा जिन चीजों को धक्का दिये जाने की बात कर रहे हैं उसे हम सामान्य जिंदगी में बहुत सहज ढंग से देख सकते हैं। आज अधिकांश घरों में पुराने बर्तन, पुराने ढंग के फर्नीचर आदि को हटा दिया गया है। उनकी जगह एक ब्रांड के प्लास्टिक के बर्तन, कुशन वाले गद्दे, महंगे सोफे आदि आ गये हैं। यह सब कुछ इतना आसानी से कर दिया गया है कि, पता ही नहीं चला। यदि गौर से इस तथ्य को जांचा जाए तो पता चलता है कि यह सब कुछ बहुत सोच-समझकर किया गया है। घरों से पुराने बर्तनों को हटाने के लिए पहले उनको पुरातनपंथी घोषित किया गया और उनकी जगह नए तरह के बर्तनों का विकल्प प्रस्तुत किया गया। ठीक यही तथ्य अन्य पर भी लागू होता है। चाचा को इस संस्कृति के हर रूप से समस्या है जिसका वह बदला लेना चाहते हैं। वह चाहे उनके जीवन-स्तर से जुड़ा मामला हो या सौन्दर्य के आज के मानकों को लेकर। वह आज के विकास के चरित्र पर सवाल खड़ा करते हैं-“इन्हें तुम सौन्दर्य मानते हो!...किसी भी निष्कलुष स्त्री की मुस्कान या एक रोते हुए बच्चे का अचानक हंस पड़ना या एक चिड़िया का इस डाल से उस डाल पर फुदकना-कोई भी एक भारी पड़ेगा। सुन्दरता तभी जन्म लेती है जब उसमें इन्सान, पशु, पक्षी किसी का भी जीवन भीतर से खुशी पाये। इसलिए वही खूबसूरत है जो भीतर से खूबसूरत है। तुम्हारे ये राष्ट्रीय राजमार्ग जो करोड़ों वृक्षों का वध करके बने हैं ये कैसे सुंदर हो सकते हैं। ये गाड़ियों और अमीरों की सुविधा के लिए बनाये गये हैं। मॉल सामान बेंचने के लिए हैं। तुम्हारा ये औद्योगिक

विकास, सेज वगैरह फलाना-ढिमाका जो किसानों की जमीन छीनकर तैयार हो रहे हैं, बांध बिजली परियोजनाएं जो इलाके की पूरी आबादी को बेघर, विस्थापित करके प्रकट हो रही हैं-सुंदर कैसे हो सकती हैं।" [2]

आज जिस तरह का विकास किया जा रहा है उसकी सही आलोचना चाचा करते हैं। यह विकास कुछ खास लोगों को ध्यान में रखकर और एक बहुत बड़े समुदाय की कीमत पर किया जा रहा है। इस तथ्य को आदिवासी इलाकों में चल रही योजनाओं आदि में देखा जा सकता है। गांधी जी ने समाज के विकास में अंतिम आदमी को ध्यान में रखने की बात कही थी, आज के विकास में इस तथ्य को अनदेखा कर दिया गया है। आम-आदमी ही सबसे अधिक इस व्यवस्था में प्रताड़ित है, उसकी जमीनों को विकास के नाम पर ले लिया जाता है और बदले में उसे कुछ रुपये देकर उसे हमेशा के लिए मालिक से मजदूर बना दिया जाता है। यह सब कुछ समाज को और अधिक आधुनिक बनाने के नाम पर किया जाता है जिसमें हर तरह से समाज के बहुसंख्यक वर्ग को छला जाता है। इसलिए इस आधुनिकता पर विचार करने की जरूरत है। समस्या तब खड़ी हो जाती है जब इसी विकास को सौन्दर्य का मानक बना दिया जाता है। इस बात से किसी को भी परहेज नहीं है कि बड़े-बड़े बांध, पुल नहीं बनने चाहिए लेकिन समस्या तब खड़ी हो जाती है जब इनकी बड़ी कीमत समाज के एक बड़े तबके को चुकानी पड़ती है। यदि विकास का मतलब है एक वर्ग की जिंदगी का प्रभावित होना तो उस विकास के चरित्र को सही दृष्टि से समझने की जरूरत है। आधुनिक होने का यह अर्थ कतई नहीं है कि सबकुछ पुराना मिटा दिया जाये, अखिलेश वर्तमान समय में 'आधुनिकता' की प्रचलित व्याख्या से एक अलग व्याख्या करते हैं-"आधुनिकता वह है जिसके सामने पुराना मिट जाने में बेहतरी समझे। वह अपने आप चली जाये। जो आधुनिकता पुराने को ज़बरदस्ती मिटाती है, तबाह करती है-पुराने को बरबाद करके काबिज होती है वह सच्ची आधुनिकता नहीं है। जो ताकत, छल, भरम, धन और कू्ररता के बल पर अपने को स्वीकार कराता है वह दमनकारी होता है, आधुनिक नहीं।..."[3] इस व्यवस्था की नीतियों का जो भी विरोध करता है वह पागल करार दिया जाता है। आज विकास के चरित्र पर या आधुनिकता के इस स्वरूप पर सवाल खड़ा करने का अर्थ है विकास विरोधी हो जाना। इसीलिए आज नक्सलवादियों को विकास विरोधी माना जा रहा है और मेधा पाटकर जैसी जननेता को भी विकास विरोधी माना जा रहा है। व्यवस्था की नजर में हर वह आदमी पागल है जो उसका विरोध करता है। चाचा का यह पागलपन मुक्तिबोध की कहानी 'क्लॉड ईथरली' के कथा नायक क्लॉड के जैसा है। कहानी में इस बात को मुक्तिबोध ने पुख्ता तौर से स्थापित किया है कि किसी को पागल घोषित करने के लिए आज की निगाह होनी जरूरी है।[4] इसीलिए क्लॉड पागल है और चाचा पागल हैं। यह पागलपन दरअसल अपने भीतर की चेतना के हिसाब से जीवन को संचालित करने लगता है। जब तक चाचा अपने परिवार के भोगवादी स्वार्थों को पूरा कर रहे थे तब तक कोई समस्या नहीं थी। महीने में दो-बार मिठाई और सप्ताह में एक बार अपनी कार से सुल्तानपुर से लखनऊ की यात्रा, लेकिन जैसे ही वह इन सबसे अपने को मुक्त करने की कोशिश करते हैं, वह पागल करार दिये जाते हैं। इसीलिए चाचा का निर्वासन परिवार से होने के बावजूद पूरी उस आधुनिक व्यवस्था के खिलाफ हो जाता है।

वहीं सूर्यकांत का निर्वासन एक तो अपने घर से होता है जिसका कारण परिवार के सामंती संस्कार हैं। दूसरे घर से निर्वासन के साथ-साथ सूर्यकांत का पूरे सुल्तानपुर से भी निर्वासन हो जाता है। उसका सम्बन्ध किसी के भी साथ नहीं रह जाता है। चाचा के साथ की वह भरी-पूरी जिंदगी एक सीमित ढर्रे पर आकर ठहर जाती है। जहां उसे हमेशा भय लगता रहता है। घर से ऑफिस आने पर उसे गौरी और गौरव की चिंता रहती है कि कहीं कुछ हो न जाये। यह भय इस संस्कृति से पैदा हुआ है जिसमें कुछ भी स्थायी नहीं है। पूंजीवादी दृष्टिकोण से देखें तो सूर्यकांत संपन्न है पर वह किसी भी समय अपने भीतर के डर से मुक्त नहीं हो पाता है। यही डर गौरी में भी है। दरअसल इस व्यवस्था में मनुष्य कहीं भी अपने को सुरक्षित नहीं पा रहा है, कहीं नौकरी जाने का डर हैं तो कहीं अपने परिवारीजनांे को लेकर। सूर्यकांत अपने विभाग प्रमुख ब्रहस्पति जी को लेकर एक डर निर्मित करता है जिससे वह लोगों की सहानुभूति जुटा सके, उनसे सामना कर सके। वह जानता है कि जिस डर का यानी कैंसर जैसी बीमारी का वह नाटक कर रहा है वैसा उसे कुछ भी नहीं हुआ हैं इसके बावजूद वह ऑफिस के लोगों के सामने इसी तरह की बातें कहता है। वह ब्रहस्पति जी से अपना तालमेल अपने विचारों के कारण बैठा नहीं पा रहा है जिसके कारण उसे ऑफिस से भी निर्वासित करने की पूरी रणनीति बना ली जाती है। यह जो नौकरी छूटने का जो भय है, वह सामान्य नहीं है। एक तरफ सुल्तानपुर छूट गया है, जहां वह लौट नहीं सकता, वहीं यदि आदमी के सामने रोजी-रोटी का संकट खड़ा होने की आशंका हो तब उसके भीतर के तनाव की सहज कल्पना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त उपन्यास की कथा में रामअजोर पाण्डे भी निर्वासन की पीड़ा से ग्रस्त है। वह अपने बाबा भगेलू पाण्डे के (भारत के) परिवार को ढूंढकर उनसे मिलना चाहता है। उसके बाबा जो भारत में पड़े अकाल में परेशान होकर अपने गांव गोसाईंगंज को छोड़कर फैजाबाद कमाने गये थे परंतु बाद में वह बिचैलिये के चक्कर में फंसकर कलकत्ता होते हुए सूरीनाम पहुंच गये। फैजाबाद के गोसाईंगंज से लेकर सूरीनाम तक की यात्रा, अपने में एक इतिहास है। जिसमें उनके बाबा को अपनी जाति कुम्हार छिपाकर पाण्डे कहना पड़ा था जो आगे चलकर उनके नाम के साथ स्थायी रूप से जुड़ गया। इससे उस समय की जातिगत सच्चाई को भी देखा जा सकता है। जातीय श्रेष्ठता के आतंक और ब्रिटिश हुकूमत की प्रताड़ना के कारण वह हमेशा के लिए अपना वतन छोड़कर, एक पीड़ा लिए वहीं बस गये। लगातार की घुटन में उनका केवल देश से विस्थापन नहीं हुआ था अपितु अपने भारतीय परिवार की नजरों से भी निर्वासन हो गया था। वह अपने को अपराधी मान रहे थे। उपन्यास में कुछ सपनांे के मार्फत इसकी तरफ इशारा किया गया है। रामअजोर पाण्डेय बाबा के बहुत निकट होने के कारण इस रहस्य को जान गये थे। उसने बाबा को उनके भारतीय परिवार से मिलाने की बात भी कही पर अब वह जाना नहीं चाहते थे। बाबा ने केवल अपने गांव का नाम बताकर उसे एक दायित्व सौंप दिया था। रामअजोर पाण्डेय अमेरिका में एक बड़ी कम्पनी का मॉलिक था। जिसके पास अरबों रुपया था, पर वह अकेला था। दो पत्नियां उसको छोड़ गई थीं। बाबा, माता-पिता तो पहले ही खत्म हो चुके थे। वह भी अब अपने बाबा की तरह अकेला था, जैसे वह मृत्यु के अंतिम दिनों में अपने 'बार' में अकेले बैठे शराब पीते रहते थे। रामअजोर पाण्डे अपने अकेलेपन से ऊबकर कंपनी

के अपने शेयर बेचकर भारत में अपने बाबा के परिवार को खोजने आ गया था, जहां वह हौली की सस्ती शराब पी रहा था और चने की घुघरी खा रहा था। वह ज्यादा से ज्यादा बाबा के विचारों के हिसाब से अपनी जिंदगी जीना चाहता था, लेकिन इसमें भी बहुत कुछ झूठ था। रामअजोर का अकेलापन मात्र अतिशय भोग से पैदा नहीं हुआ था अपितु निर्वासन का एक कारण मानवीय सम्बन्ध भी होते हैं, जिसके बिना व्यक्ति अपने को अकेला महसूस करता है। रामअजोर पाण्डे इसी अकेलेपन से घिरा है। वह इसे दूर करने का प्रयास करता है पर सफल नहीं हो पाता। वह किसी को स्थायी रूप से अपनी पत्नी नहीं बना सका जिससे वह अपना उत्तराधिकारी प्राप्त कर पाता। इस असफलता के बाद उसने उसने अपनी कम्पनी के ही एक आदमी को अपना उत्तराधिकरी घोषित करने का निर्णय लिया परंतु इस घोषणा के पहले ही वह कम्पनी छोड़कर चला गया। यहीं से जो डोर मानवीय सम्बन्ध की बची थी वह भी टूट गई। वैसे कम्पनी के जिस आदमी को वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा था, जिसका उसने उसके जन्मदिन पर उसे बताने की पूरी योजना बना ली थी, परंतु इससे पहले कि उसे पता होता, वह कम्पनी को छोड़कर चला गया। रामअजोर को जीने की जो उम्मीद बची थी वह हमेशा के लिए खत्म हो गई। हर आदमी को जीने के लिए एक बहाने की जरूरत होती है लेकिन जब कोई बहाना नहीं रह जाता तो जिंदगी नीरस हो जाती है। रामअजोर पाण्डेय के भीतर यही नीरसता है। इसी नीरसता को दूर करने के लिए वह बाबा से किये गये वायदे को पूरा करने के बहाने भारत आ जाता है। निर्वासन की यह पीड़ा लिए हुए रामअजोर भारत में बहुगुणा के मार्फत सूर्यकांत से मिलता है जो नौकरी छूटने के भय में अपने ऑफिस से निर्वासित होने की पीड़ा भोग रहा था। रामअजोर पाण्डे/अमरीका पाण्डे बाबा के परिवार को तलाशने की कोई भी कीमत देने को तैयार है। सूर्यकांत को सुल्तानपुर के गोसाईंगंज में उसके बाबा के परिवार का पता लगाना था और उसे सिद्ध भी करना था। सूर्यकांत अपने परिवार से बेदखल लखनऊ में अपनी पत्नी गौरी और पुत्र गौरव के साथ रह रहा था। पाण्डे के परिवार को खोजने के अभियान में वह वरुणा एक्सप्रेस से सुल्तानपुर के गोसाईंगंज जा रहा था। सुल्तानपुर का जाना उस अतीत में जाना है जिसे वह छोड़ आया है, जिसमें उस रात की स्मृतियां भी शामिल थीं जब सूर्यकांत को जाड़े की अंधेरी रात अपने प्रेम को लेकर ऐसी बातें अपने पिता से सुनने को मिली थी जिससे उसका कोई वजूद नहीं बचा था। उसके पूरे अस्तित्व को पिताजी ने रौंद दिया था। ''अपनी शक्ल मत दिखाना आइंदा...जा रंडी साली की जांघ सहला...उसके पेटीकोट में मुंह रगड़...। हर्रामी...बाप को इश्कबाजी दिखा रहा है...।" [5]

आज जब सूर्यकांत घर पहुंचता है तो पिता की झुकी नजरें और मां के आंसू उसे एक दूसरे तरह की पीड़ा से भर देते हैं। वह एक अलग तरह की निर्वासन की पीड़ा से गुजरने लगता है। गौरीगंज से लौटते समय उसने चाचा को जो ईमेल किया था उससे उसके भीतर के निर्वासन की पीड़ा को समझा जा सकता है। "जब तक अपने बिछुड़े हुए लोगों, जगहों की अच्छी यादें भीतर मौजूद रहती हैं तब तक कोई भटकन सम्पूर्ण भटकन नहीं होती है। इस तरह से देखो तो इस बार मैं पहली बार बेघरबार होकर प्रवास पर जा रहा हूं। विस्थापन में आपकी जड़े आपके भीतर पैठ बनाए रहती हैं लेकिन अब मेरे अंदर का वह सारा तबाह हो चुका है। मर चुका है।...यह एक ऐसा विध्वंस है जिसकी बुनियाद पर कोई सृजन नहीं होता है।" वह आया तो रामअजोर पाण्डे के परिवार का पता

लगाने था पर वह अपने खोये हुए परिवार को तलाशने मे लग गया। आज जब जा रहा था तो एक अलग तरह की पीड़ा से विंध गया था। मनुष्य इस आधुनिक सभ्यता में धीरे-धीरे टूटता है, धीरे-धीरे असफल होता है, लेकिन उससे अलग हो नहीं पाता। सूर्यकांत अपने भीतर की तमाम यातनाओं के बावजूद उससे मुक्त नहीं हो पाता, यही इस सभ्यता की विडंबना है।

दरअसल यह जो तलाश है वह अपने उसी निर्वासन से मुक्त होने की तलाश है जिससे सूर्यकांत पीड़ित है, रामअजोर पाण्डे पीड़ित है, गौरी पीड़ित है। गौरी की पीड़ा को उपन्यासकार ने एक अलग ढंग से चित्रित किया है। जिसमें उसका निर्वासन कभी खत्म होने को नहीं आता है। वह सूर्यकांत को उसके घर वालों से काटकर अपने भीतर के निर्वासन से मुक्त करने की कोशिश करती है परंतु वह अंदर ही अंदर डरती रहती है कि सूर्यकांत कहीं न कहीं अब भी अपने घर वालों से जुड़ा हुआ है। “शायद वह सूर्यकांत के उस जुनून के कारण विचलित थी जो अपने छोटे शहर और उसमें बसे अपने रिश्तों नातों के लिए सूर्यकांत ने शुरू से ही अपरम्पार था। जो पिछले अनेक वर्षों से खामोश, दमित और भूखा था। अब जब इतने बरस बाद वह वहां जा रहा था तो वह खलबली से भरी हुई थी और सहमी हुई थी: कहीं अब सूर्य के संसार में मेरे अधिकार का इलाका कम न हो जाये। आखिर वह ही थी जिसने सूर्य के संसार से सूर्य के बचपन और कैशोर्य को, उन दिनों की बहुत सारी यादों और आदतों को परे धकेला था और ख़ुद क़ाबिज हो गयी थी...।” [6] उपन्यास में इस जुड़ाव को कुछेक प्रतीकों के जरिए प्रस्तुत किया गया है। सूर्यकांत जब रामअजोर पाण्डे के बाबा के परिवार का पता लगाने सुल्तानपुर के गौरीगंज जाने की बात करता है तो वह फिर उसी निर्वासन की पीड़ा में जीने को अभिशप्त होती है। उस रात की समस्त बातें (जो सूर्यकांत के पिता ने सूर्यकांत को कही थी) उसे अपने प्रति लगती हैं। वह सोचती है कि सूर्यकांत को पिता ने जितनी बातें कही थी, उसके केन्द्र में गौरी थी। आज सूर्यकांत के जाने के बाद यह भाव और पीड़ा दे रहा है। वहीं उपन्यास के दूसरे पात्र मसलन शिब्बू और देवदत्त, भारत की जहालत से ऊबकर अमेरिका जाकर अपने स्वार्थों को पूरा करना चाहते हैं। वह एक अलग तरह के आत्मनिर्वासन से जूझ रहे हैं। यह पात्र सुखद भविष्य की कल्पना में वर्तमान से निर्वासित हैं। यह दौर स्वार्थों का दौर है जिसमें व्यक्ति के लिए मूल्यों का कोई मायने नहीं है। शिब्बू और देवदत्त के लिए पैसा ही सब कुछ है, जिसे वह अमेरिका जाकर कमाना चाहते हैं। वहीं रामअजोर पाण्डे है जो भारत आकर बाबा द्वारा सौंपे गये दायित्व को पूरा कर निर्वासन की पीड़ा से मुक्त होना चाहता है। उपन्यास में समाज की मुक्ति की सामूहिकता की कल्पना को पूरी शिद्दत के साथ स्थापित किया गया है। जिसमें सूर्यकांत की मुक्ति न तो अकेले में हो सकती है और न रामअजोर पाण्डेय की और न ही चाचा की।

संस्थाओं का सांप्रदायीकरण

संस्थाओं का पतन किस तरह हो रहा है इसे पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष वृहस्पतिजी के माध्यम से समझ सकते हैं। उपन्यास में इनका वर्णन उपन्यासकार ने बहुत रुचि से किया है। जिसमें उनके सोचनके तरीके से लेकर उनके निर्णय लेने की प्रक्रिया और उपयुक्त स्थान आदि का उल्लेख किया है। ब्रहस्पति जी के लिए शौचालय वह स्थान

है, जहां उनके भीतर विचारों का तीव्र प्रवाह होता है। वहां जाने के बाद वह हर बार नहाते हैं और नए कपड़े पहनते हैं। इसी शौचालय में उनको मुक्तिपथ योजना को खारिज करने का महान विचार आया था। वह भारत के अध्यात्म, पोंगापंथ को दुनिया के सामने बेहतर रूप में रखना चाहते हैं, जिससे भारत में ज्यादा से ज्यादा विदेशी धन आये। इसके पीछे उनकी मुकम्मल सोच थी। "प्रदेश को छोड़िए, हमारा पूरा देश सुख, सुविधा, विज्ञान और आधुनिकता से उन्हें कभी नहीं आकर्षित कर सकता है। इन मायनों में वे हमसे हमेशा बहुत आगे रहे हैं और रहेंगे। उनको आधुनिकता और विज्ञान के कारण कौतुक नहीं होगा। उनको चाहिए प्राचीनता, रहस्य, चमत्कार, अध्यात्म। ये सब यदि किसी एक तत्व में एक साथ हैं तो सनातन प्राचीनतम हिंदू धर्म में। हम इसके माध्यम से ही इस प्रांत की पुण्यभूमि पर विश्व के विशाल भूभाग के निवासियों को पर्यटन पर आने के लिए विवश कर सकते हैं।" [7] इससे वर्तमान समय में अपनी विरासत को लेकर राजनीतिक पार्टियों के चरित्र को देखा जा सकता है। वृहस्पतिजी के लिए 1857 का कोई मायने नहीं है। वह तर्क तो इस बात के देते हैं कि इससे फिरंगियों को बुरा लगेगा परंतु इसके मूल में उनका हिंदू एजेंडा छिपा हुआ है।[8] वह प्रदेश को उसी अतीत में ले जाना चाहते हैं जिसमें वर्णवादी व्यवस्था कायम थी। जिसमें सुंदर नगर थे। नगर में गणिकाएं थीं। ऐसी ही दूसरी अनके योजनाएं इन नगरों को लेकर हैं। राजनीति कैसे काम करती है इसे वृहस्पतिजी के माध्यम से देख सकते हैं। वृहस्पतिजी विरोधी दल के हैं परंतु अपने प्रभाव के दम पर इस सरकार में अपने हिंदू ऐजेंडे को लागू कर रहे हैं। इस तथ्य से राजनीति के असली चरित्र को देखा जा सकता है। चुनाव में जो पार्टियां एक-दूसरे के खिलाफ लड़ती हैं, वही बाद में अपने सिद्धांतों को ताक पर रखकर आपस में हाथ मिला लेती हंै। जनता फिर ठगी रह जाती है। उसके पास चुनने का विकल्प नहीं रह जाता है। कुछ समय पहले तक उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में यह बात लागू होती थी। व्रहस्पति जी कहते हैं-"....जब से उत्तराखंड इस प्रदेश से अलग होकर एक नया प्रदेश बन गया है तब से पर्यटन उद्योग लगातार अवनति की ओर बढ़ रहा है। इसका एक कारण यह है कि पर्वतों और देवताओं की प्रिय भूमि, वह देवलोक अब हमारे पास नहीं रहा। लेकिन और भी वजहें हैंः जैसे यह कि पिछली सरकार निकम्मी और भ्रष्ट थी। अविवेकी थी। उसकी योजनाओं और कार्यक्रमों के पीछे एकमात्र उद्देश्य होता था-सरकारी धन की लूट। उसके भ्रष्टाचार ने नये प्रस्तावों को चूना लगाया और उसके निकम्मेपन ने हमारे बचे हुए पर्यटन स्थलों में इतनी अव्यवस्था बढ़ा दी कि पहले जैसा माहौल नहीं रहा। रही सही कसर तुष्टीकरण की राजनीति ने पूरी कर दी।...नतीजा है पर्यटन में से प्राप्त होने वाली आय के मामले में हम लगातार पिछड़ रहे हैं।"[9] व्रहस्पति जी जैसे राजनीतिज्ञ कभी पर्यटन के विकास के नाम पर कभी सनातन धर्म की बात करके समाज में सांप्रदायिकता का प्रचार-प्रसार करते हैं। वह इसके लिए हर तरह के हथकंडे अपनाते हैं, वह कभी किसी कर्मचारी को विभिन्न तरह की जांचों का डर दिखाकर उसे झुकने को मजबूर करते हैं और कभी भारतीय संस्कृति की दुहाई देकर अपने मंसूबे पूरे करने की कोशिश करते हैं। सांप्रदायिकता के इतिहास को यदि देखा जाए तो वह इसी रूप में काम करती रही है इसे इतिहास के किसी भी काल खंड में लागू करके देखा जा सकता है। समाज में सांप्रदायिकता एक विचारधारा के रूप में अपना प्रसार करती है। इतिहासकार बिपन चन्द्र इस तथ्य को बखूबी रेखांकित करते

हैं-“समाज को विचारधाराओं के जरिए सांप्रदायिक बनाया जाता है, कोई थानेदार या तहसीलदार इसके लिए आदेश लेकर नहीं आते।...” [10] इस तथ्य को आजादी के आंदोलन के पहले से लेकर आज तक के दौर में देखा जा सकता है। ब्रहस्पति जी जैसे लोग वर्तमान राजनीति में बाबरी मस्जिद विध्वंस में साफतौर से पहचाने भी गये। आज तो उसी पार्टी की सरकार है जो अपने सांप्रदायिक एजेंडे को हर जगह लागू कर रही है जो भी इसके खिलाफ कुछ कहता है कि उसे हर तरह से दबाया जाता है और फिर भी यदि नहीं मानता है तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है जिसे कर्नाटक में प्रो. कलबुर्गी, नरेन्द्र दाभोलकर आदि की हत्याओं मं े देखा जा सकता है।

भूमंडलीकृत संस्कृति

1990 के बाद की संस्कृति पर भूमंडलीकरण का प्रभाव बहुत तीव्र पड़ा है। केवल शहर ही नहीं ग्रामीण समाज भी इससे बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। यह बदलाव परिवार की संरचना से लेकर मूल्यों में बदलाव के रूप में साफतौर से देखा जा सकता है। सूर्यकांत का सुल्तानपुर वह सुल्तानपुर नहीं रहता है जिस सुल्तानपुर को छोड़कर वह आया था। जब सूर्यकांत पाण्डे के बाबा के गांव को खोजने जाता है तो शहर की संरचना ही बदली हुई दिखाई पड़ती है। “...दुकानों की भरमार हो गयी है। सड़के टूटी-फूटी जिनके दोनों ओर दुकानें ही दुकानें जो बड़े-बड़े शो रूमों से लेकर छोटी कोठरियों तक में थीं। दुकानों के सामने भी ठेले या पटरी पर कोई कुछ बेच रहा था। थाह लेने पर पता चला कि शहर मोबाइल कंपनियों के विज्ञापन से रंगा हुआ था।....”[11] यह संस्कृति एक साथ शहर और गांव को अपने प्रभाव में लिये हुए है। आज विज्ञापन के माध्यम से भूमंडलीकरण की संस्कृति पूरे समाज में फैलायी जा रही है। आंकड़ो पर यदि गौर करें तो पता चलता है कि ब्लू फिल्मों की सबसे बड़ी खपत ग्रामीण समाज में हो रही है। इस संस्कृति ने शहर की संरचना को इस कदर प्रभावित किया है कि छोटे-छोटे दुकानदार बेरोजगारी के संकट से जूझ रहे हैं। वह इन बड़ी कंपनियों के आगे जो एक ही छत के नीचे सबकुछ बेंच रही हैं, उनका मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। शहर की छोटी दुकानें एक तरह से शहर के जनजीवन को आपस में जोड़े रखने में भी कहीं न कहीं अपनी भूमिका निभाती थीं। एक छोटा दुकानदार अपने ग्राहकों से व्यक्तिगत रूप से जुड़ा होता था लेकिन इस मॉल कल्चर में ग्राहक एक उपभोक्ता मात्र है, इसके अतिरिक्त उससे और कोई संबंध नहीं है। भूमंडलीकरण की संस्कृति लोगों की रुचियों को भी निर्धारित कर रही है। इस तथ्य को हिंदी उपन्यासों के साथ दूसरी भाषाओं के उपन्यास में भी देखा जा सकता है। पुर्तगाली उपन्यासकार ज्हूगे सारामागु ने अपने उपन्यास ‘द केव’ में एक घटना के माध्यम से इस तथ्य को अभिव्यक्त किया है। “हम आपको हर चीज बेचेंगे जिसकी आपको आवश्यकता है, किंतु हम चाहते हैं कि आपको उन्हीं वस्तुओं की आवश्यकता हो, जिन्हें हम बेचना चाहते हैं।”[12] यह प्रवृत्ति इस दौर की संस्कृति में स्पष्टतौर से दिखाई देती है। इस संस्कृति में जरूरतें पैदा की जा रही है वह चाहे वस्तुओं के माध्यम से या किसी दूसरे रूप में।[13] ऐसे में शहर में रहने वाले लोग अपने स्वार्थ में बहुत अधिक घिरते जा रहे हैं, परिणामस्वरूप शहरी समाज में संवेदनहीनता बढ़ रही है जो किसी घटना के समय साफतौर से दिखाई पड़ जाती है। वहीं इस संस्कृति के प्रचार-

प्रसार में टीवी ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। घर की पूरी संरचना बदल गयी है, बूढ़ों को अनुपयोगी बना दिया गया है, वह अपने ही घर में निर्वासन की पीड़ा से गुजर रहे हैं। घर में बूढ़े अपने पोतों-पोतियों को किस्से-कहानियां सुनाने के लिए तरस रहे हैं। "...अब कहानियां सुनाने के लिए बच्चे उनको घेर कर नहीं बैठते थे, जिद नहीं करते थे, उनका सिर दबाकर पैर चांप कर खुशामद नहीं करते थे कहानी सुनाने के लिए। टीवी ने दादी की मांग को, उनकी लोकप्रियता को जीर्ण कर दिया था। इसलिए वह उससे ईष्र्या करती थीं।...नतीजतन किसी समय की मशहूर किस्सागो आसमान के नीचे आंगन में अकेली लेटी हुई कभी-कभी बड़बड़ाती-'आग लगे इस करमजले डब्बे को।"[14] घर में बूढ़ों का इस तरह अनुपयोगी होना कोई सामान्य घटना नहीं है। यह अनुपयोगिता जो 'चीफ की दावत' कहानी में दिखाई पड़ती है या ज्ञानरंजन की 'पिता' कहानी में उससे कई गुना अधिक मानसिक यातना देने वाली है। यहां व्यक्ति अपने सामने ही देख रहा है कि बच्चे उसको छोड़कर टीवी देखने में व्यस्त हैं। बूढ़ो के लिए बच्चे समय काटने का एक जरिया होते थे आज वह अपना समय किस तरह काटे यह बड़ी समस्या है, इसीकारण आज वृद्धों को वृद्धाश्रम में डाल दिया जाता है या फिर घर में उनकी देखभाल के लिए किसी केयर टेकर को रखकर परिवार के लोग उनसे अपने को अलग करे लेते हैं। आज बूढ़े इस संस्कृति में सबसे उपेक्षित जिंदगी जीने को मजबूर हैं। इस संस्कृति में जिस तरह के मूल्य परोसे जा रहे हैं उसमें संबंधों को भी उपयोगिता पर कसा जा रहा है। ऐसे में इन बूढ़ों का इस संस्कृति में कोई महत्व नहीं रह जाता है। इस संस्कृति के केन्द्र में बाजार है, जो सभी कुछ निर्धारित कर रहा है। "सांस्कृतिक रूप से भूमंण्डलीकरण ने पश्चिमी और अमेरिकी संस्कृति के निर्यात का रास्ता खोला।...एक ग्लोबल पॉप कल्चर का आविर्भाव हुआ जिसमें न्यू मीडिया की भूमिका प्रमुख साबित हुई। बहुराष्ट्रीय निगमों ने ग्लोबल संस्कृति के विभिन्न संरचनाओं और रूपों को प्रायोजित करने के जरिए उपभोक्ता क्रांति की प्रक्रिया के साथ उसे अनिवार्य रूप से जोड़ दिया। विज्ञापन और कामनाओं को सौंदर्यमूलक संसार चेतना के ऊपर हावी होने लगा। बाजार ने संस्कृति को जिंस बनाकर उसे मुनाफे के स्रोत में बदल दिया। संस्कृति और अर्थतंत्र के बीच भूमंडलीकरण के अभंग जाल की तरह काम करने लगा।..."[15] इस कारण भारत में एक नई संस्कृति अपना प्रभाव दिखा रही है जिसकारण समाज की संरचना, संस्कृति आदि में बदलाव हो रहा है। यह संस्कृति व्यक्तिगत लाभ को केन्द्र में रखकर अपनी नीतियों का प्रचार करती है और मनुष्य को अधिक स्वार्थी होने को प्रेरित करती है। इसके प्रभाव में सबसे अधिक युवा हैं जो ज्यादा पैसे कमाने के लालच में लगातार लगे हुए दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास में तेंदुलकर और सूर्यकांत के भाई को इस रूप में देखा जा सकता है। तेंदुलकर कहता है-"अगर अपने को बेचने का शऊर हो तो आज की दुनिया में क्या नहीं बेचा जा सकता है! बस आपको चाहिए एक चांस और खुली भरीपूरी दुनिया।..."[16] युवा वर्ग पैसे के लिए अपना देश बहुत आसानी से छोड़ने के लिए तैयार है। वह चाहता है कि कैसे भी अमेरिका में वह अपने को व्यवस्थित कर ले। नब्बे के बाद के दौर में विदेश जाने-बसने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है, यह भारतीय समाज के लिए चिंताजनक है। दरअसल कोई भी संस्कृति जब अपने हिसाब से लोगों की मानसिकता को निर्मित करने लगती है तब समस्या

गंभीर हो जाती है। भूमंडलीकरण की संस्कृति आज दुनिया के अधिकांश हिस्से के लोगों को अपने हिसाब से संचाालित कर रही है जिससे समस्याएं और ज्यादा जटिल बन गई हैं।

गांव शहर की बदलती संरचना

भूमंडलीकरण के प्रभाव से गांव की संरचना भी बदल रही है। गांव में अब संबंधों का स्वरूप बदल रहा है और लोग अपने स्वार्थांे से अधिक ग्रस्त हैं। गांव से उन सभी चीजों को खत्म किया जा रहा है जो पहले समुदाय विशेष से एक पेशे के रूप में जुड़ी हुई थीं। ग्रामीण समाज में मिट्टी के बर्तन बनाने का काम पहले कुम्हार जाति के लोग ही करते थे। कुम्हार जाति इस पेशे के कारण समाज के बहुत से वर्गों से बहुत गहरे से जुड़ी हुई थी। मिट्टी के बर्तन हर शुभ काम में मंगाये जाते थे, जिसमें तीज-त्यौहार से लेकर शादी-विवाह सब शामिल थे। लेकिन इस संस्कृति में सब अपने अस्तित्व की अंतिम सांसे गिन रहे हैं या कुछ क्षेत्रों में तो यह खत्म हो गये हैं। इसके पीछे भूमंडलीकरण की वही नीतियां हैं जो अपने फायदे के हिसाब से सबकुछ निर्धारित कर रही हैं। इसीलिए गांव से चाक गायब हो गये हैं, गांव से ठठेरे गायब हो गये है, ऐसे ही न जाने कितने व्यवसाय और परंपराएं खत्म हो चुकी हैं। चाक के खत्म होने में के संदर्भ में उपन्यास में अखिलेश जी लिखते हैं-"...जिस सामूहिक समस्या ने उन्हें चाक से विरत किया था वह यह थी कि प्लास्टिक और स्टील के बरतनों के आगे कुम्हार की कला मलिन पड़ने लगी थी। कुम्हार के दीयों को मोबत्तियों ने पीटा जैसे कि बाद में सभी को चीनी झालरों ने तबाह कर दिया था। कुम्हार के कुल्हड़ों को शीशे के गिलास ने शिकस्त दी थी और कुम्हार के खिलौने तो सबसे अधिक मटियामेट हुए। वस्तुतः बच्चों की रुचियां अजीब होने लगी थीं। पहली बात उनकी खिलौनों में दिलचस्पी कम रहने लगी थी और अगर वह पसंद करते थे तो ऐसी चीजें जिनमें शोर हो, तेज धमाका हो, वे काफी चिकनी रंगीन तथा चटख हों।"[17] इस संस्कृति में जिस तरह की चीजें परोसी जा रही हैं उनमें हिंसा का स्वर बहुत अधिक है। बच्चों के लिए जो खिलौने बनाये जा रहे हैं वह धमाके वाले हैं यानी आने वाली पीढ़ी में हिंसा का भाव स्थायी रूप से भरा जा रहा है। इससे एक बात तो पता चलती है कि आने वाली पीढ़ी किस तरह की संस्कृति का विकास करेगी, उसकी रुचियां किस तरह निर्मित होंगी आदि। रचनाकार समाज में खत्म होती उन सभी परंपराओं, व्यवसायों को रचना में प्रस्तुत करके वर्तमान समाज की दिशा की ओर संकेत करता है। वह रचना के माध्यम से अपने समय में हस्तक्षेप करता है। वह समय रहते आगाह करता है, जिससे जब उसका मूल्यांकन समय के सापेक्ष रखकर किया जाए तो साहित्य की भूमिका कहीं से प्रश्नांकित न हो। निर्वासन उपन्यास इस संदर्भ में उन सभी के बारे में गंभीरता से न केवल विचार करने के लिए मजबूर करता है अपितु इस संस्कृति की अंधी दौड़ में शामिल मध्य वर्ग की असलियत भी बयान करता है।

ग्रामीण समाज में युवा अपने वृद्ध माता-पिता को छोड़कर शहर कमाने चले गये हैं और जो नहीं गये हैं उन दोनों के माता-पिता को भी एक ही तरह के अकेलेपन से गुजरना पड़ता है। गांव में अब युवाओं के लिए कोई काम नहीं है। लोग खेती छोड़ रहे हैं, वह अब कोई फायदे का व्यवसाय साबित नहीं हो रहा है। ऐसे में उनका बाहर

जाना जीवन के जरूरी है पर उनकी अनुपस्थिति में बुजुर्गों को जिस यातना से गुजरना पड़ता है वह भी कम पीड़ादायक नहीं है। "...यहां के वृद्ध अकेले नहीं हुए थे। उनके बच्चे काम-धंधों के लिए उन्हें छोड़कर नहीं चले गये थे पर यह उनका चयन नहीं मजबूरी थी। बेहतरीन नौकरियों ने जो बड़े शहरों तथा परदेश में थीं उन्हें कबूल नहीं किया था इसलिए वे यहां रह गये थे और संतप्त तथा खीझे हुए थे। लगाव नहीं विफलता ने उन्हें यहां से निकलने नहीं दिया था जिससे वह मां-पिता पर गुस्सा उतारते थे, वार करते थे। अपना और उनका जीवन तबाह करते थे।..."[18] दोनों तरह से बुजुर्ग यातना झेलने को मजबूर हो रहे हैं। किसी भी समाज की संवेदना के मूल्यांकन से ही उसकी दिशा को, विकास को देखा जा सकता है, इस पैमाने पर जब आज के समाज को रखते हंै तो पता चलता है कि समाज जितना भौतिक दृष्टि से विकसित हो रहा है संवेदना के स्तर पर उतना ही वह निम्नतम स्तर पर जी रहा है। यह वह समाज है जहां बच्चे अपने सुख में बुजुर्गों को बाधा मानते हैं और बच्चों को उनसे दूर रखते हैं। समाज में ऐसी संस्कृति का प्रभाव बढ़ रहा है, जो मनुष्य को और ज्यादा संवेदनहीन और अमानवीय बना रही है। वहीं रामअजोर पांडे का अपने बाबा के गांव, परिवार की तलाश एक नयी दिशा दिखाता है। "पांडे जी अपने पुरखों के लिए आपकी इतनी तड़प देखकर मुझे बहुत खुशी हुई है। आज जब पुरखों को भुला देने में, हर समस्या के लिए उन्हें गुनहगार साबित करने में अपनी शान मानी जा रही है तब आप इतनी दूर से इस देश में आये हैं अपने बाबा की खोज में-ये बड़ी बात है।..."[19] रचनाकार इस समाज में जो कुछ अच्छा बचा हुआ है उसकी भी कथा समानन्तर रूप में प्रस्तुत करता है। जहां सबकुछ बदल रहा है वहां इस तरह की कुछ बातें आश्वस्त करती हैं कि धीरे-धीरे सब बेहतर हो जायेगा। अब गांव और शहर में वह सभी पशु-पक्षी लुप्त होने के कगार पर पहंुच गये हैं जो मनुष्य की जिंदगी में सुख-दुःख के साझीदार थे। वह चाहे मुंडेर पर कौवे का बैठकर किसी के आने का संकेत देना या गौरैया का घर के रोशनदानों में अपनी चीं-चीं की आवाज से घर को संगीत से भर देना, अब सब विलुप्त होता जा रहा है। "...सूर्य का लाल गोला था वहां। लेकिन चिड़ियों के चहचहाने का कलरव न था। न आसमान में एक साथ कई कतारों में चिड़ियों की उड़ान। ख़याल आया: सब चिड़ियां कहां गुम हो गयीं? उसने लखनऊ के अपने घर का तसव्वुर किया और सोचा: अब छत पर गौरैया दाना चुगने नहीं आती। मुंडेरों पर कौवे आवाज़ नहीं देते। कोयले वृक्षों की डालों पर कूकती नहीं और कबूतर रोशनदानों में फड़फड़ा कर गुटरगूं नहीं करते या गुटरगूं करके फड़फड़ाने नहीं लगते। कहां गये ये पक्षी, अब तो जाल लेकर निकल पड़ने वाले बहेलिये भी नहीं दिखते और बच्चों के हाथों में गुलेलें भी नहीं रहतीं, फिर क्या हुआ होगा।"[20] इसके साथ ही गांव में खेती से बैलों तक को इस संस्कृति में बाहर कर दिया गया है। अब बैल से खेती करने में बहुत अधिक समय तथा श्रम की आवश्यकता है, ऐसे में ट्रैक्टर से खेती कराकर बैल को बाहर कर दिया गया है। खेती से बैलों का बाहर होना खेती की उत्पादकता को प्रभावित करना है। बैल केवल खेत जोतने के काम नहीं आते थे अपितु बैलों से खाद भी मिलती थी जो खेती के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। "...गांव में छोटी जाति वाले खेतिहर भी ट्रैक्टर से खेत की जुताई कराते हैं इसलिए बैल बेकार की चीज हो गये हैं। यही हाल गाय भैसों का है। देशी वाली

सेर भर से ज़्यादा दूध नहीं देती तो उनको बैठा कर कोई क्यों खिलायेगा? क्योंकि अब उनके बच्चों की भी कोई कीमत नहीं रह गयी।...।"[21]

दरअसल यह संस्कृति मुनाफे पर केंद्रित है इसलिए जिस भी चीज से फायदा दिख रहा है उसे ही अपनाया जा रहा है। वह चाहे किसानों द्वारा खेतों में ट्रैक्टर का उपयोग हो या फिर देशी गायों को न पालने की बात। इसीलिए इस संस्कृति में सबकुछ बहुत तेजी से बदलता हुआ दिखाई पड़ रहा है। वह चाहे समाज के रीति-रिवाज हों या बूढ़ों के प्रति बर्ताव। इस बदलाव में कुछ भी स्थिर नहीं रह पायेगा। छायावादी कवि प्रसाद जी ने पूंजीवादी समाज के बारे में 'कामायनी' में लिखा है-'स्पद्र्धा में जो उत्तम ठहरे रह जावे, संसृति का कल्याण करें सुख मार्ग बतावे।' आज की संस्कृति तो पूंजीवाद का नवीन रूप है जो नित परिवर्तन कर रही है। स्पद्र्धा की गति इतनी तीव्र है कि उसमें तभी बने रहा जा सकता है जब सबकुछ नये के हिसाब से किया जाये। यह जो नवीन संस्कृति है वह मनुष्य को और अधिक संवेदनहीन बनाकर जीने के लिए प्रेरित कर रही है। इस संवेदनहीनता में नव पूंजीवाद के हित छिपे हुए हैं जिसे सही तरह से समझना जरूरी है।

असुरक्षा बोध

अखिलेश जी इस उपन्यास के विभिन्न पात्रों के माध्यम से इस संस्कृति में मनुष्य के भीतर किस तरह की असुरक्षा की भावना भर गयी है इसकी पडत्रताल की है। उपन्यास में कोई एक पात्र नहीं है जिसके भीतर असुरक्षा का भाव भरा हुआ है। सूर्यकांत और गौर के भीतर असुरक्षा का बोध है उसके केंद्र में कहीं-न-कहीं परिवार है। वह दोनों एक-दूसरे के बिना अपने को असुरक्षित महसूस करते रहते हैं। सूर्यकांत के भीतर असुरक्षा का कारण एक तरफ तो उसके विचार हैं तो दूसरी तरफ नौकरी छूट जाने को भय है। वह व्रहस्पति जी के साथ इसी को लेकर पीड़ा महसूस करता है। सूर्यकांत इससे अपने को निकालने के लिए कैंसर जैसी बीमारी की अफवाह रचता है और लोगों की सहानुभूति लेता है। कैंसर जैसी बीमारी होने की बात प्रचारित करना कोई सामान्य घटना नहीं है, वह अपने जीवन को लेकर कितना असुरक्षित होगा तभी वह इस तरह की बीमारी की बात अपने बारे में सोचता है। वह घर से बाहर होने पर तरह-तरह की बातें पत्नी के बारे में सोचता रहता है। "...कपड़ों पर इस्तरी करते वक्त गौरी के हाथ बिजली के प्वांइट मंे चिपक न गये हों। वह स्याह पड़ती गयी होगी और शरीर का सारा रक्त निचुड़ गया होगा। कभी रसोई गैस लीक होने और कभी सिलिण्डर फट जाने के बाद वह गौरी की निष्प्राण देह की कल्पना से उत्पन्न दहशत से भर उठता।..."[22] दरअसल यह व्यवस्था मनुष्य को सबकुछ क्षणिक रूप में देती है। वह चाहे सुखों के संदर्भ में हो या जीवन के स्थायित्व को लेकर। सूर्यकांत के भीतर अपने परिवार से पैदा हुई जो असुरक्षा है वह तब और ज्यादा बढ़ जाती है जब उसकी नौकरी जाने की नौबत आ जाती है। इस व्यवस्था में किसी भी तरह का कोई स्थायित्व नहीं है। इस संस्कृति के मूल्यों को विज्ञापनों की पंच लाइनांे में कुछ इस तरह प्रस्तुत किया जाता है-'फैशन के इस दौर में गांरटी की इच्छा न करें।' आदि। यहां सबकुछ अस्थायी किया जा रहा है। सरकारी नौकरियां खत्म की जा रही हैं और उनकी जगह निश्चित समयावधि के लिए लोगों को काम

पर रखा जा रहा है। इस व्यवस्था में कम वेतन में अधिकतम काम लिया जा रहा है और ऊपर से श्रम करने वाला कभी भी नौकरी को लेकर निश्चिंत नहीं रह पाता। यह अनिश्चितता ही मनुष्य के भीतर असुरक्षा की भावना भरती चली जाती है, जिससे कथा पात्र अपनी पत्नी, पुत्र को लेकर एक भय में जीता रहता है। यह भय इस संस्कृति में इस तरह से रच बस गया है कि उससे सभी पीड़ित है। रामअजोर पाण्डेय के भीतर यह भय अपनी बढ़ती उम्र को लेकर हो रहा है। वह अपने मरने से पहले बाबा के भारतीय परिवार से मिल लेना चाहता है जबकि उसका शरीर दिन-प्रति-दिन तेजी से ढ़लता जा रहा है। उसके पास एक ही बहाना है जीने का बाकी तो सबकुछ छूट चुका है। पाण्डेय के भीतर की जो असुरक्षा है वह कई कारणों से पैदा हुई है। उसके बहुत प्रयासों के बाद भी वह किसी एक लड़की को पत्नी नहीं बना सका, और न ही अपनी बड़ी कंपनी का कोई वारिस तैयार कर पाया। वह जिस दिन वारिस घोषित करने वाला था कि उसके एक रात पहले ही उसके सपने एक ईमेल से खत्म हो जाते हैं। यह ईमेल उस लड़के का था जिसे वह अपना वारिस घोषित करना चाहता था लेकिन एक दिन पहले ही उसने नौकरी छोड़ने का ईमेल कर दिया था। यानी जो कुछ बची हुई उम्मीद थी वह भी खत्म हो गई। ऐसे में पाण्डेय के भीतर सभी चीजों से विरक्ति हो जाती है। वह अपना सबकुछ बेंचकर एक उम्मीद में भारत चल देता है। पाण्डेय के भीतर की असुरक्षा के केंद्र में कोई एक घटना नहीं है, उसने लगातार असुरक्षा के भाव को महसूस किया है। वह जब भी किसी लड़की को पत्नी बनाने की बात सोचता है कि वह उसे छोड़कर चली जाती है, जैसे वह किसी को वारिस बनाने का इरादा रखता है कि वह उसकी कंपनी ही छोड़ जाता है। पाण्डेय की विडंबना यह है कि उसके पास बहुत पैसा होने के बावजूद उस जिस मानसिक सुकून की तलाश है वह उसे किसी से भी नहीं मिल पाता, ऐसे में वह अकेलेपन में घिरता चाला जाता है।

शिल्पगत प्रयोग

उपन्यास मंे शिल्प के स्तर पर बहुत प्रयोग किए गए हैं। उपन्यास की कथा शताब्दियों के बीच आवाजाही करती है। जिसमें 19 वीं शताब्दी से लेकर 21 वीं शताब्दी तक के यथार्थ को देखा और समझा जा सकता है। उपन्यास छोटी-छोटी कहानियों-मौत का मजाक, पीपीपी, मैं अग्नि हूं जल जाओगे यार, हौली की शराब और चने की घुघरी आदि के मार्फत बुना गया है। इसके साथ ही लोककथाओं के माध्यम से स्थानीयता का पुट बनाए रखा गया है। “यहां चरित्र की आत्माभिव्यक्ति में झूठ की इतनी ज्यादा मिलावट हो गयी है कि आख्यान लेखक को अब हस्तक्षेप करना पड़ रहा है। इस घुसपैठ के पीछे तर्क वही है कि जिस प्रकार चरित्रों को कथाकार के वर्णन को संशोधित करने और सत्य उद्घाटित करने का इख्तियार है उसी प्रकार चरित्र यदि मनमानी करने लगे, दूर की हांकने लगे, झूठ फ़रेब करने लगे तो कथाकार को भी वास्तविकता का उद्घाटनकर्ता होने के नाते चरित्र की नकेल कसने का हक है।...”[23] वहीं उपन्यास में जादुई शैली का जिस तरह से प्रयोग किया गया है वह इस शैली पर रचनाकार की पकड़ को दिखाता है। इस शैली का प्रयोग उपन्यास में कई तरह से किया गया है जिसमें कहीं तो कल्पना की ऊंचाई को देखा जा सकता है तो कहीं यथार्थ की भयावहता को। आलोचक राजकुमार जी की इस

बात से सहमत हुआ जा सकता है कि 'यह उपन्यास यथार्थवाद, आधुनिकतावाद और जादुई यथार्थवाद की खूबियां संजोए भारतीय ढंग का उपन्यास है।' उपन्यासकार पात्रों का जो विकास करता है उसके खिलाफ पात्र अपनी जबानी स्थिति स्पष्ट करते हैं। यह एक ऐसा प्रयोग है जो कथा को जीवंत बना देता है। उपन्यास में इस प्रयोग के दूसरे रूप भी मिलते हैं जहां पात्रों की मनबढ़ई को उपन्यासकार बांधने की बात कहता है-"इस उपन्यास में अनेक पात्र स्वयं उपस्थित होकर अपनी बातें रखेंगे और कथाकार के अज्ञान, असमर्थता, अयोग्यता, अपर्याप्तता, अशुद्धि को दूर करेंगे। उचित ही। कथाकार को छोड़िए, वह बहुत मामूली चीज है, ईश्वर भी अपनी रची हुई स्रष्टि में जब अन्याय और अन्यान्य गड़बड़ियां करने लगता है तो उसकी स्रष्टि के-रचना के-प्रमुख चरित्र यानिकि मनुष्यगण हस्तक्षेप करके उसे दुरुस्त करते हैं।...लेकिन कई बार खुद कथा कहने के चक्कर में भूलभुलैया में फंस जाते हैं-ढेर सारे गड़बड़झालों को जन्म देने लगते हैं। यहां तक कि झूठ बोलने से भी बाज नहीं आते हैं। तब कथाकार को हस्तक्षेप करते हुए कथा की कमान अपने हाथ में लेनी पड़ती है...।"[24] इसे उपन्यास को पढ़ते हुए देखा जा सकता है। कथा का विकास सीधे सपाट ढंग से नहीं किया गया है। कथा में कहीं से कोई दूसरी कथा जुड़ जाती है जो आगे चलकर मुख्य कथा का अनिवार्य हिस्सा बन जाती है, तो कहीं दो कथाएं आपस में मिलकर एक कथा बन जाती हैं। उपन्यास के पात्रों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। जिसमें शिबू की पत्नी कामना को अनुमान लगाने में महारत हासिल है तो गौरी कोई भी चरित्र धारण कर लेती है। वैसे तो यह पात्र कथा को जीवंत बना देते हैं परंतु इससे इस दौर की मनःस्थिति की जटिलता को समझा जा सकता है। निदा फाजली लिखते हैं-'हर आदमी में होते हैं दस बीस आदमी/जिसको भी देखना हो कई बार देखना।' यह बात इन चरित्रों के मार्फत पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। गौरी कभी शराबी बन जाती है तो कभी भिखारन। उपन्यास में बहुगुणा और उसकी पत्नी के कामों का जिस तरह (उसकी शादी) वर्णन किया गया है वह बहुत ही रोचक है। उपन्यास में जहां इस संस्कृति की आलोचना करते हुए एक प्रतिपाठ प्रस्तुत किया गया है वहीं एक भारतीय ढंग की संस्कृति निर्मित करने की कोशिश भी दिखाई पड़ती है। यहीं पर आकर साहित्य बाकी अनुशासनों से अलग हो जाता है। जिसमें सामाजिक आलोचना के साथ-साथ इसका मुकाबला करने के औजार भी मुहैया कराये गये हैं। चाचा का प्रतिरोध इसी तरह का है। वह कहीं से भी आधुनिकता विरोधी नहीं हैं परंतु वह नकली आधुनिकता के चक्कर में अपने को गुलाम नहीं बनाना चाहते हैं। इसीलिए समाज की नजर में पागल करार दिए जाने के बावजूद अपने तर्कों से थोड़ा भी पीछे नहीं हटते हैं। वह आधुनिकता का स्वकल्पित मॉडल बनाकर उसी हिसाब से इसका प्रतिरोध करते हैं। 'निर्वासन' पढ़ते हुए समाज की सच्चाइयों को विभिन्न कोणों से देखा जा सकता है जिसमें हंसी भी है, वेदना भी है, असहायता भी है। साहित्य अपने समय के सवालों से पात्र को न केवल परिचित कराता है अपितु उनके खिलाफ उसे खड़े होने की तरफ प्रेरित भी करता है। साहित्य का यही उद्देश्य है।

[1] अखिलेश, निर्वासन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ.215

[2] वही, पृ.225

[3] वही, पृ.228

[4] मुक्तिबोध, क्लॉड ईथरली, मुक्तिबोध रचनावली भाग-3(संपादक: नेमिचंद्र जैन), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2007, मुक्तिबोध लिखते हैं- ''जो आदमी आत्मा की आवाज कभी-कभी सुन लिया करता है और उसे बयान करके छुट्टी पा लेता है। वह लेखक हो जाता है, आत्मा की आवाज जो लगातार सुनता है, और कहता कुछ नहीं, वह भोला-भाला, सीधा-सादा बेवकूफ है। जो उसकी आवाज बहुत ज्यादा सुना करता है और वैसा करने लगता है वह समाज विरोधी तत्वों में यों ही शामिल हो जाया करता है लेकि जो आदमी आत्मा की आवाज सुन करके हमेशा बेचैन रहता है और उस बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है। पुराने जमाने में संत हो सकता था, आजकल उसे पागलखाने में डाल दिया जाता है।'' पृ. 155-156

[5] अखिलेश, वही, पृ.106

[6] वही, पृ.84

[7] वही, पृ.24

[8] वही, ''...उनको आधुनिकता और विज्ञान के कारण कौतुक नहीं होगा। उनको चाहिए प्राचीनता, रहस्य, चमत्कार, अध्यात्म। ये सब यदि किसी एक तत्व मंें एक साथ हैं तो सनातन प्राचीनतम हिंदू धर्म में। हम इसके माध्यम से ही इस प्रांत की पुण्यभूमि पर विश्व के विशालतम भूभग के निवासियों को पर्यटन पर आने के लिए विवश कर सकते हैं।...'' पृ.24-25

[9] अखिलेश, वही, पृ.23

[10] चन्द्र, बिपिन, सांप्रदायिकता एक परिचय, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2004, पृ.11

[11] अखिलेश, वही, पृ.199

[12] मिश्र, गिरीश, भूमंडीमकरण के कैदी ('द केव' उपन्यास की मर्म मीमांसा), मंतव्य 4 संपादक: हरेप्रकाश उपाध्याय, ए-935/4 इंदिरा नगर लखनऊ, उ.प्र., अक्टूबर 2015, पृ.78

[13] सिंह, भगवान, 'बाजार से बाजारवाद तक: इतिहास से अनितिहास तक, समकालीन भारतीय साहित्य, 'भूमंडलीकरण विशेषांक' जुलाई-अगस्त 2011, साहित्य अकादमी की द्वैमासिक पत्रिका, दिल्ली, भगवान सिंह लिखते हैं-''बाजार आप किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर जाते हैं। बाजारवादी दौर में आप बाजार नहीं जाते। माल आपका पीछा करता है। आपकी असुविधा का ध्यान किए बिना आपके घर में घुस आता है। वह आपकी जीवनशैली और शक्ल का मखौल उड़ाकर तब तक आपको हीन भावना से भरता रहता है जब तक आप उस माल को उपयोग करना आरंभ नहीं कर देते। वाहनों का बाजार, सौख्य प्रसाधनों का बाजार, अवांछित पेयों का बाजार, वस्त्रों और साज-सामान का बाजार तो मुख्यतः इसी तरह फैलाया गया है। विपणन धूर्तता का पर्याय बन चुका है, परंतु आश्चर्य की बात यह कि विज्ञापन के दबाव में हम लगातार मूर्ख सिद्ध होने पर यह नहीं समझ पाते कि हमें मूर्ख बनाया जा रहा है।'' पृ. 67

[14] अखिलेश, वही, पृ.166

[15] दुबे, अभयकुमार, भूमण्डलीकरण, समाज -विज्ञान विश्वकोश 4, संपादकः अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ.1306

[16] अखिलेश, वही, पृ.322

[17] वही, पृ.275

[18] वही, पृ.188

[19] वही, पृ.79

[20] वही पृ.146

[21] वही, पृ.149

[22] प्रसाद, जयशंकर, 'संघर्ष' सर्ग कामायनी, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2002, पृ. 94

[23] अखिलेश, वही, 2014, पृ.35

[24] अखिलेश, वही, पृ.63